'शिक्षा में गुणवत्ता' आम प्रचलित मुहावरा हो चुका है। इस शोधपरक लेख में गुणवत्ता को शिक्षा में अन्तर्निहित विशेषता मानते हुए कालान्तर में इस विचार में आए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को रेखांकित किया गया है और बताया गया है कि बच्चों की क्षमताओं, रुचियों, संज्ञानात्मक विकास, तथा बच्चों की सक्रिय भागीदारी और सीखने की प्रक्रिया में उन्हें अहमियत आदि सवालों को लेकर यह बहस नई नहीं है। हालांकि शिक्षा की बहस में 1960 के आसपास इसे मान्यता मिली। साथ ही नव उदारवादी अर्थव्यवस्था एवं बाजारवादी ताकतों के बीच गुणवत्ता को सही मायने में बनाए रखने के लिए प्रत्येक स्कूल के स्वभाव को समझने एवं गुणवत्ता के मुद्दों पर व्यापक विमर्श की आवश्यकता पर बल देता है।

गुणवत्ता की बहस का इतिहास

❑ प्रो. कृष्ण कुमार, डॉ. पद्मा सारंगपाणी

'गुणवत्ता' शब्द के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ किसी भी वस्तु का वह विशिष्ट या अनिवार्य चरित्र, अंतर्निहित गुण, धर्म या विशेषता है, जिसके माध्यम से उस वस्तु की पहचान होती है या उसे परिभाषित किया जाता है। दूसरा अर्थ किसी खास वस्तु की अपने जैसी अन्य वस्तुओं की तुलना में श्रेष्ठता से है (वेबस्टर की नौवीं न्यू कॉलेजियेट डिक्शनरी के अनुसार)। शिक्षा में गुणवत्ता के विचार में ये दोनों ही अर्थ निहित हैं। इतिहास में इस शब्द को दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त करने के प्रमाण मिलते हैं और इस लेख में भी दोनों संदर्भों तथा इनके अन्तर्संबंधों पर विचार किया गया है।

शैक्षिक विचारकों के बीच गुणवत्ता की बहस, उन गतिविधियों और प्रक्रियाओं जिन्हें 'शिक्षा' के रूप में परिभाषित किया जाता है, के 'अनिवार्य चारित्रिक गुणों' की बहस है। शिक्षा विमर्श अपने आप में जिस हद तक उद्देश्यों और नियमों से बंधा है, लक्ष्यों के एक ऐसे ढांचे से संबद्ध है जो सीखने वाले व्यक्ति से समाज तक फैला है, उस लिहाज से शैक्षिक विचारकों ने शिक्षा के विचार में परिष्कार और सुधार के साथ ही इससे संबद्ध गुणवत्ता के विचार के निहितार्थों के द्वारा भी अपना योगदान दिया है। मुख्यधारा के शिक्षाविदों, जिनमें शिक्षाक्रम और शिक्षक निर्माण की प्रक्रिया में सलंग्न व्यक्ति शामिल हैं, की एक महत्त्वपूर्ण शाखा ने इस दार्शनिक अनुकूलन से गुणवत्ता के सरोकार को आकार और अभिव्यक्ति दी है, जहां गुणवत्ता की चर्चा स्वयं शिक्षा के आलोचनात्मक विचार में अंतर्निहित अभिन्न अंग है। 'सुधार' 'सामयिकता', 'मास्टर लर्निंग', 'वस्तुपरक शिक्षा', 'बेहतरी', 'प्रभावकारिता' और 'नवाचार' जैसे विचारों और शब्दों का उपयोग पूर्व निर्धारित और स्वीकृत सीमाओं में रहते हुए और सार्थक शैक्षिक लक्ष्य और अनुभव की कसौटी पर क्या खरा उतर सकता है जैसे प्रश्नों से उपजी चिंताओं और बेहतर प्रक्रियाओं और परिणामों की तलाश को संप्रेषित करता है। यह जानना भी दिलचस्प है कि 1990 के दशक तक शिक्षा कोष और एन्साइक्लोपीडिया में 'गुणवत्ता' शब्द का समावेश नहीं किया गया था। शिक्षा में 'गुणवत्ता' के इतिहास के इस संक्षिप्त लेखे-जोखे की चर्चा करते हुए हम शिक्षा के विचार में आए कुछ महत्त्वपूर्ण बदलावों को चिह्नित करने से आरंभ करते हैं जो शिक्षा में 'गुणवत्ता' और 'अनिवार्य चारित्रिक गुणों' को परिभाषित करते हैं।

शैक्षिक विमर्श में 'गुणवत्ता' शब्द का इस्तेमाल 1950 के दशक से महत्त्व हासिल करता है और 1960 के दशक और उसके बाद से ज्यादा प्रकट रूप में सामने आने लगता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के इस काल में दुनिया के राजनीतिक नक्शे में महत्त्वपूर्ण बदलाव आने लगे थे, नए राष्ट्र-राज्यों का उदय हो रहा था, जो लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को अपना रहे थे। नस्ल, वर्ग और लिंग के आधार पर होने वाले उत्पीड़न को लेकर पैदा हुई जागरूकता और नागरिक संघर्षों के चलते अनेक पुरानी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को भी नीतिगत पुनर्गठन के लिए विवश होना पड़ा। इसी समय में अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में भी मानवीय पूंजी के सिद्धांत (शुल्त्ज 1960)

का उभार देखने को मिलता है, जो शिक्षा को आर्थिक समृद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण अवयव के रूप में स्थापित करता है और यह कहता है कि त्वरित आर्थिक विकास की चुनौतियों का सामना कर रहे नव स्वतंत्र देशों में गरीबी उन्मूलन और सामाजिक गतिशीलता लाने में शिक्षा महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। विभिन्न राज्यों ने सबको शिक्षा के प्रावधान को एक प्रतिबद्धता के रूप में स्वीकारा लेकिन इसकी सबके लिए समान गुणवत्ता बनाए रखने के प्रयासों में समानता का दूसरा ही पहलू सामने आता है। विभिन्न उत्पादों और सेवाओं में आधारभूत और प्रतिस्पर्द्धात्मक मानकों को सुनिश्चित करने के लिए गढ़े जा रहे वैज्ञानिक प्रबंधन के सिद्धांत के साथ ही 1970 और उसके बाद शिक्षा में गुणवत्ता की चर्चा ने दस्तक दे दी। यह वह समय है जब तीसरी दुनिया के अनेक देशों में आर्थिक समायोजन और योजनाओं के निर्माण में अंतर्राष्ट्रीय अनुदान और विश्व बैंक सरीखी ऋणदात्री एजेंसियों का दखल सामने आने लगता है और इसके साथ ही ऐसे पैमाने भी निर्धारित किए जाने लगे जो उनके निवेश को लाभ में परिवर्तित कर उन्हें लौटा सकें। बच्चों की तत्कालीन और दीर्घकालीन शिक्षा का लक्ष्य क्या होना चाहिए, इसे लेकर नीतिगत मसलों को प्रभावित करने के अपने अधिकार को जताने के लिए 'गुणवत्ता' का सवाल माता-पिता तथा अन्य धारकों को एक आसान राह नजर आने लगा। समकालीन विमर्श में विकासशील और औद्योगिक दोनों ही तरह के देशों में 'मौलिक दक्षताओं', 'न्यूनतम स्तर' और 'मानकों' को हासिल करने की बात पर काफी जोर दिया गया है, यह अलग बात है कि विकासशील देशों में अब न्यूनतम के टोकरे में जीवन कौशल, स्वास्थ्य और नागरिकता के सवालों को भी शुमार किया जाने लगा है। हम 'शिक्षा की गुणवत्ता' की परिभाषा में आए इस ताजा ऐतिहासिक विकास, समाज के साथ इसके संबंध और इसके प्रभावी हस्तांतरण की भी पड़ताल करते हैं। अंत में हम इसके असर और सबक की चर्चा करेंगे।

बीसवीं शताब्दी : एक दृष्टिकोण

भूमंडलीय स्तर पर शैक्षिक विचारों के विकास को प्रतिबिंबित करने वाले दो प्रमुख घटक हैं, पहला, प्रभावी विचार के स्रोतों की निश्चितता और दूसरा उन्हीं विचारों का त्वरित प्रसार। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दुनियाभर के जिन विचारकों की जीवनियां चर्चा में थीं, उनमें से एक प्रमुख नाम ज्यां जेक्स रूसो का लिया जाता है। इस समय के सामाजिक परिदृश्य में तीन प्रमुख विचारों का बोलबाला था - विज्ञान, मानवतावाद और लोकतंत्र - इन सभी का मूल यूरोप के औद्योगिकरण के अनुभव और दुनिया भर में औपनिवेशिक शासन के नियंत्रण में निहित था। स्कूली शिक्षा के सार्वभौमिकरण में एक हित यह भी छुपा था कि आधारभूत साक्षरता, अंक ज्ञान और नैतिक विकास का प्रसार 'जनता पर नियंत्रण' में मददगार हो सकता था। चाहे अधीनस्थ उपनिवेश हों या चाहे अपने देश, गरीब जनता को शिक्षित करने की जरूरत के पीछे यही नजरिया काम कर रहा था। इसीलिए हम देखते हैं कि दुर्खीम के शिक्षा संबंधी समाजशास्त्रीय विश्लेषण में शिक्षा पर राज्य के हाथ में एक नियामक उपकरण के तौर पर जोर दिया गया है। इस समय की प्रमुख छवियां सत्तावादी शिक्षकों, पाठ्यपुस्तकों और परीक्षा के आतंक से दबे निष्क्रिय और भयभीत बच्चों की हैं जो एक ऐसी पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं जिसके बरक्स सुधार, बदलाव और गुणवत्ता की खोज पर जोर दिया गया और बार-बार जोर देने की जरूरत बनी रही।

औपनिवेशिक शासन और यूरोपीय सांस्कृतिक वर्चस्व से कहीं अधिक ऐसा लगता है कि रूसो (1762) के विश्लेषण में, बच्चे में अंतर्निहित अच्छाई और उनकी शिक्षा और उनको गढ़ने में वयस्कों की सक्रिय भूमिका को नियंत्रित करने की बातों ने क्यूबा में मारती (1979) और भारत में टैगोर (1931) जैसे लोगों को प्रेरित किया। वे दुनिया के उन दार्शनिकों में से हैं जिन्होंने कहा कि शिक्षा के उद्देश्य व्यापक सामाजिक और निजी लक्ष्यों से निर्धारित होने चाहिएं और उन्होंने बच्चों को शिक्षित करने के लिए वैज्ञानिक शैक्षणिक तकनीकों तथा पाठ्यक्रम के अवयवों को खोजने के लिए प्रयोग किए। प्रमुख तथा प्रभावशाली यूरोपीय शिक्षाविदों में पेस्तालोज्जी, फ्रोबेल और कालांतर में मोंटेसरी हैं; जिनकी व्यवस्थाएं सतर्क अवलोकन और बच्चों के साथ काम के द्वारा विकसित हुईं, जिनमें बच्चों की अंतर्निहित रुचियों और सीखने की क्षमताओं की पहचान कर उनके समग्र व्यक्तित्व के विकास को लक्ष्य बनाया गया। पेस्तालोज्जी द्वारा शारीरिक दंड का निषेध और फ्रोबेल द्वारा खेल के महत्त्व पर जोर इन शिक्षाविदों द्वारा शिक्षा के वातावरण में लाए गए गुणात्मक बदलाव को प्रोत्साहन के उदाहरण हैं। मोंटेसरी ने एक विस्तृत कार्यक्रम विकसित किया जिसका शिक्षाक्रम बच्चों को उनके लिए खासतौर से तैयार की गई सामग्री पर व्यक्तिगत आधार पर श्रेणीबद्ध किया गया काम देने पर आधारित था, जिसका लक्ष्य अनुशासन तथा पूर्णता की भावना के साथ बच्चों का संज्ञानात्मक विकास करना था (मोंटेसरी 1974)। मोंटेसरी अपने जीवन काल में जिन भी विकासशील देशों में गईं ज्यादातर जगह उनकी इस पद्धति ने अपना प्रभाव छोड़ा । शैक्षिक वातवावरण की संदर्भ संपन्नता और विशेषज्ञतापूर्ण चरित्र, पाठ्यक्रम की बच्चों की व्यक्तिगत भिन्नताओं (गति और कुछ हद तक रुचियों में भिन्नता) के आधार

पर बच्चों को संबोधित कर पाने की क्षमता और व्यापक शिक्षाक्रम संबंधी तैयारी आदि बातों ने इसके साथ गुणवत्ता को इस तरह संबद्ध कर दिया कि 'मोंटेसरी स्कूल' छोटे बच्चों के लिए 'अच्छी शिक्षा' का पर्याय बन गया।

रूसो के बच्चों पर सकारात्मक फोकस और लोकतंत्र के संबंध में खुद उनके वैज्ञानिक प्रयोगवाद से संकेत पाकर शैक्षिक लक्ष्यों, पाठ्यक्रम और शिक्षाक्रम पर डीवी के दार्शनिक विचारों ने शिक्षकों की शैक्षिक कल्पनाशीलता तथा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अनेक देशों की शैक्षिक व्यवस्था को बहुत प्रभावित किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शिक्षाविदों के शैक्षिक चिंतन और अनेक राष्ट्रों की शैक्षिक व्यवस्था पर डीवी के शैक्षिक लक्ष्य, पाठ्यक्रम और शिक्षाक्रम संबंधी दार्शनिक विचारों का गहरा असर पड़ा। डीवी (1916) के शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांतों के तहत बच्चों के सामने एक आदर्श स्थापित करने के लिए शिक्षक स्वयं एक खोजकर्ता की भूमिका को अंगीकार कर लेता है। डीवी का प्रामाणिक और सार्थक शिक्षा के मूल्यांकन का मानदंड यह था कि वह कक्षा में बच्चों के सामने यथार्थ जीवन की समस्याएं पेश कर प्रत्येक बच्चे को अनुभव से सीखने के अवसर उपलब्ध कराए। अनेक लोगों ने 'परियोजना प्रणाली' को ही डीवी का पर्याय मान लिया। कोई भी स्कूल कितना प्रभावी है इसके मूल्यांकन का एकमात्र पैमाना उसमें उपलब्ध व्यक्तिगत विकास के अवसर हैं, क्योंकि डीवी का शैक्षिक आदर्श समस्या-समाधान में सक्षम, आत्मनिर्भर और सुलझा हुआ व्यक्ति है। ऐसे व्यक्तियों से बना समाज डीवी का लोकतंत्र संबंधी यूटोपिया है, जिसमें शिक्षा सहित सभी सार्वजनिक प्रतिष्ठानों की कुशलता का पैमाना संप्रेषण और भागीदारी में निहित है। अपने विशद लेखन और प्रयोगधर्मी स्कूल में किए गए कार्यों के जरिए डीवी पाठ्यक्रम की अंतर्वस्तु और शिक्षाक्रम संबंधी गतिविधियों, जो बच्चों को निष्क्रिय ग्राहक की भूमिका में रखते हैं और स्कूली शिक्षा की बच्चों के समुदाय से निरपेक्षता के संदर्भ में 'शैक्षिक गुणवत्ता' के तमाम सवाल को उठा पाए। वे शिक्षा के लक्ष्यों के रूप में व्यक्ति के विकास और सामाजिक विकास में कोई अंतर्विरोध नहीं देखते और यह प्रस्तावित करते हैं कि इनकी ओर अभिमुख होने में शिक्षा में गुणवत्ता निहित है।

मनोविज्ञान का प्रभाव

इन विचारकों के प्रभाव का असर शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं के विकास में सामने आया, जिनमें दर्शन के अध्ययन को भी शामिल किया गया। शिक्षकों को तैयार करने वाले पाठ्यक्रम अब प्रशिक्षण से परे हट कर अध्यापन के तरीकों में सुधार के लिए आधार तैयार करने की कोशिश में लग गए, इसके लिए बाल मनोविज्ञान के अध्ययन को बढ़ावा दिया गया और पेशेवर मानकों को कायम करने और परिभाषित करने के साथ ही वैज्ञानिक शिक्षाक्रम के निर्माण के लिए वैज्ञानिक योजना को अनिवार्य बताने वाले हर्बटियन विचार से परिचय कराया गया। इनके साथ ही मनोविज्ञान ने प्रतिभा और परीक्षा के विचार में भी अपना योगदान दिया, मनोवैज्ञानिक अल्फ्रेड बीनेट ने इस विचार को फ्रांस में क्रियान्वित किया, जहां 1895 से ही प्राथमिक शिक्षा को नि:शुल्क और अनिवार्य घोषित कर दिया गया था। बीनेट (1911) इस बात को महत्त्व देते थे कि शिक्षक में बच्चों की मानसिक बुनावट में व्यक्तिगत भिन्नता को पहचानने की क्षमता होनी चाहिए, ताकि उन्हें ज्यादा कुशलता के साथ पढ़ाया जा सके। इस परीक्षा में परिणामों का पूर्वानुमान नहीं किया गया - इसने स्कूल में साक्षरता और अंक ज्ञान जैसी संज्ञानात्मक गतिविधियों पर दिए जा रहे जोर को कमजोर कर दिया। उसने इस मान्यता को पूर्णत: बढ़ावा दिया कि यह क्षमताएं सार्वभौमिक और साधारण हैं, संस्कृति और संदर्भ का इनकी अधिकारिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे सीखने और कुशल होने का पूर्वानुमान हैं, और वे असमानतापूर्वक 'सामान्यत:' बच्चों की किसी आबादी में वितरित कर दिए जाते हैं। इन विचारों ने सीखने वालों के बीच समानता और स्कूलों में अध्ययन के लिए शामिल ज्ञान के लोकतंत्रीकरण के विचार को चुनौती दी - ये दोनों ही गुणवत्ता की समकालीन अवधारणा में महत्त्वपूर्ण हैं। स्कूली शिक्षा और सीखने के बारे में सहजबुद्धि से किए जाने वाले विचारों में इनकी विश्वव्यापी लोकप्रियता और इनके प्रति आग्रह और शैक्षिक योजनाकारों तथा शिक्षकों के बीच सीखने की गुणवत्ता में समानता को शामिल करने को लेकर 'वैज्ञानिक' प्रतिरोध के स्रोत, प्रभावी समूहों और 'लोक' शिक्षाक्रम में इनकी निरंतरता की ओर संकेत करते हैं। परीक्षा का निरंतर औचित्य बना रहना आधुनिक शिक्षा प्रणाली के दो मूल विचारों की ओर ध्यान आकर्षित करता है। पहला, शिक्षा प्रणाली या स्कूल की गुणवत्ता सीखने वालों की व्यक्तिगत भिन्नता को दिखाने की क्षमता पर निर्भर करती है और दूसरा, शैक्षिक कार्यक्रमों की 'वैज्ञानिक' योजना बनाना और उनकी निगरानी करना संभव है।

बीसवीं शताब्दी का मध्यकाल मनोविज्ञान में 'संज्ञानात्मक क्रांति' के लिए जमीनी कार्य का समय था, लेकिन सीखने के विज्ञान और विचारधारा के रूप में व्यवहारवाद के अस्तित्व में आने और प्रभाव हासिल करने के कारण, 1960 के अंत तक भी शिक्षा पर इसका प्रभाव नजर नहीं आया (ब्लैकमान 1995)। बी. एफ

स्किनर (1966) के वैज्ञानिक कार्यो ने शिक्षा मनोविज्ञानियों को व्यवहार में आने वाले उल्लेखनीय बदलाव के रूप में सीखने की परिभाषा उपलब्ध कराई और सीखने वालों के व्यवहार में प्रगतिशील बदलाव लाते हुए शिक्षाक्रम पर ध्यान केन्द्रित किया, ताकि उपयुक्त बल देकर पूर्व निर्धारित लक्ष्यों और उद्देश्यों को हासिल किया जा सके। इसकी हरबर्ट के योजना तत्त्व के साथ भी पूरी संगति बैठती है जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही शिक्षकों की तैयारी और कक्षा में होने वाली गतिविधियों को निर्देशित करते रहे थे। इसने शैक्षिक लक्ष्यों को ज्यादा निकट से साधने और परीक्षा को शिक्षार्थी के व्यवहार पर निगरानी के उपाय के रूप में इस्तेमाल करते हुए सभी शिक्षार्थियों को पारंगत बनाना सुनिश्चित करने की संभावना को खोला। इसने शिक्षण व्यवस्था में पूर्ववर्ती किसी भी दर्शन या विचार से कहीं ज्यादा विश्वसनीयता के साथ गुणवत्ता का वादा किया। इसने शिक्षक की शिक्षाक्रम संबंधी अधिकारिता की केन्द्रीयता या ज्ञान तथा सीखने के ग्राह्य प्रकृति के बारे में परंपरागत मान्यताओं के साथ भी छेड़छाड़ नहीं की।

युद्ध के दौरान के वर्षों में शैक्षिक विचारों पर व्यवहारवाद का प्रभाव अन्य अनेक घटनाओं, खासतौर से औद्योगिक मनोविज्ञान के विकास और शिक्षा में प्रबंधकीय गतिविधियों को लागू करने से भी संबद्ध करके देखा जा सकता है। लॉटन (1984) ने फ्रेंकलिन बोबिट, जिसने 1918 में पाठ्यक्रम पर उद्यमी एफ.डब्ल्यू. टेलर के विचारों को लागू करना शुरू कर दिया था, के वस्तुनिष्ठ नजरिए की विरासत को खोज निकाला। सीमित संसाधनों से असीमित परिणाम हासिल करने की आवश्यकता का प्रत्यक्ष आकर्षण था, लेकिन मानव प्रकृति के व्यवहारवादी मानक के शिक्षा पर नकारात्मक प्रभाव को अकेली वित्तीय तार्किकता के साथ पूरी तरह नहीं समझाया जा सकता। युद्ध के बाद के वर्षों में तीव्र विकास और टेलर की पुस्तक 'पाठ्यक्रम के मूल सिद्धांत और दिशा निर्देश' (1949) के प्रकाशित होने के साथ ही पाठ्यक्रम विकास के व्यवहारवादी विचार की प्रतिष्ठा दिखाई दी और इसके मूल्यांकन में जब ब्लूम (1956) के नेतृत्व में एक दल शिक्षा के लक्ष्यों का 'वर्गीकरण' तैयार कर रहा था तब इसके विरुद्ध अधिक धारदार उपकरण विकसित किया जा सकता था। अनेक भाषाओं में अनूदित ब्लूम की इस पुस्तक को शिक्षा संबंधी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक के रूप में जाना जाता है (एंडरसन एवं कार्थवोल 2001)। शिक्षा में गुणवत्ता अब शिक्षार्थी की उपलब्धियों पर केंद्रित हो गई है और जिन्हें अब पूर्वानुमानित किया जा सकता था और इसे और प्रभावी बनाने के लिए शिक्षाक्रम संबंधी प्रयास भी किए जाने लगे। यह डीवी के नजरिए के ठीक उलट था जो यह मानते थे कि शिक्षा के सर्वोत्तम परिणाम वे हैं जिनका पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे शिक्षार्थी की खोजी क्षमताओं को दिखाते हैं (स्टेनहाउस 1975)। एक पीढ़ी से ज्यादा पाठ्यक्रम के सिद्धांत एवं स्वरूप निर्माता व्यवहारवादी लक्ष्य निर्धारित करने और उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन करने के लिए अपने कार्य की केंद्रीय गतिविधि के रूप में परीक्षा की जरूरत महसूस करते रहे हैं। यह परंपरा दुनिया के अनेक हिस्सों में जारी है और विकासशील देशों में इसके प्रति विशेष आग्रह देखने को मिलता है जहां का शैक्षिक तंत्र काफी हद तक नौकरशाही के नियंत्रण में कार्य करता है। विकसित देशों में भी व्यवहारवादी पाठ्यक्रम योजना ने गुणवत्ता के ही एक पहलू जवाबदेही की मांग की पूर्ति के लिए नौकरशाही प्रबंधन को बढ़ावा दिया।

संभवत: शिक्षा व्यवस्था पर बढ़ते नौकरशाही नियंत्रण की प्रतिक्रिया में 1960 के दशक में विरोध की एक मुखर आवाज के रूप में मानवतावाद का उभार देखने को मिलता है। इस आंदोलन, ऐसा प्रतीत होता है कि गुणवत्ता के लोकप्रिय विचार और शिक्षा की सत्ता केन्द्रित परिभाषा के प्रति असंतोष को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। शिक्षा व्यवस्था के विस्तार और उसमें सुधार की दिशा में कार्य कर रहे गैर सरकारी संगठनों के प्रसार के बाद भी इस प्रभाव की निरंतरता बनी हुई है। रॉजर (1969), बीटलहीम (1952) और कोजोल (1968) शैक्षिक गतिविधियों के स्वरूप को अधिक व्यक्तियों में केन्द्रित बनाए जाने की आवश्यकता को जोर देकर समझाते हैं, ताकि सकारात्मक व्यक्तित्व निर्माण के विकास को सुनिश्चित किया जा सके। रूसो और डीवी की दार्शनिक विरासत के नक्शे-कदम पर चलते हुए ब्रिटेन, अमरीका और यूरोप के कुछ देशों में कुछ छोटे समूहों ने खुद अपने स्कूल भी स्थापित किए। ये स्कूल ऐसी स्वतंत्र जगह थीं जहां वे नौकरशाही के नियंत्रण से मुक्त रहते हुए अपने बच्चों के लिए अपनी शर्तों पर विषय-वस्तु और प्रक्रियाएं निर्धारित कर सकते थे। शीघ्र ही शांतिवाद, प्रतिस्पर्धा से मुक्ति, रचनात्मकता को प्रोत्साहन मतभेदों के प्रति सहिष्णुता, प्राकृतिक जीवन शैली और पाठ्यक्रम तथा सीखने की गति को विभिन्न व्यक्तियों को ध्यान में रखते हुए ज्यादा विविधतापूर्ण बनाने वाली परिभाषाएं ऐसे प्रतिष्ठानों के उल्लेखनीय वैचारिक अवयव बन गए (ग्रॉबार्ड 1974)। हॉल्ट (1967) और नील (1959) इस आंदोलन के अगुवा थे। हालांकि मुख्यधारा की बजाए यह आंदोलन हमेशा हाशिए पर ही रहे, फिर भी इन्होंने ब्रिटेन में शैक्षिक सुधार का आधार तैयार किया (आर्चर 1984)। सत्ता द्वारा स्थापित गुणवत्ता के मानकों से छुटकारा पाने, नहीं तो कम से कम उनके दायरे को विस्तार देने के लिए ही सही दुनिया के विभिन्न भागों में अपने को उपलब्ध आजादी का उपयोग करते हुए ऐसे अनेक

संस्थानों का विकास जारी है जो गुणवत्ता के वैकल्पिक विचार की कल्पना को जीवित रखे हुए हैं।

पियाजे

अकादमिक 'मुख्यधारा' के अंदर मानवतावाद को पियाजे के निर्माणवाद के रूप में एक मजबूत सहयोगी मिला (पियाजे 1971)। यूरोप में 1950 के बाद से और अंग्रेजी बोलने वाले विकसित देशों में 1960 के दशक में इस सिद्धांत ने शिक्षाविदों को बच्चे के सीखने की प्रक्रिया में उनके लिए ज्यादा सक्रिय, सहभागितापूर्ण और सार्थक भूमिका को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया। इस सिद्धांत ने सीखने की प्रक्रिया में बच्चे की अपनी अहमियत को पहचाना और यह प्रस्तावित किया कि संज्ञान और प्रतिभा अनुकूलन के पहलू हैं। मनुष्य के सीखने के इस जैविक आधार ने मानवीय प्रतिभा की सामान्य तथा सार्वभौमिक प्रकृति को, उसके सार्थक तथा सोद्देश्य चरित्र को रेखांकित करते हुए केंद्र में ला दिया। शिक्षा में इस अवधारणा ने प्रगतिशीलों को बच्चों के शैक्षणिक अनुभवों में गुणवत्ता और प्रासंगिकता को, भविष्य की तैयारी के लिए एक प्रक्रिया के रूप में लाने की बजाए, इन्हें तत्काल स्थापित करने का एक नया उपकरण थमा दिया। पियाजे के सिद्धांतों ने पाठ्यक्रम और शिक्षाक्रम को विविध रूपों में प्रभावित किया। पियाजे के संज्ञान के ज्ञानमीमांसात्मक पहलू संबंधी विचारों ने यूरोप में पाठ्यक्रम पर पुनर्विचार को प्रेरित किया। 1960 के अमेरिका ने उनके सिद्धांतों को ज्यादा वैज्ञानिक योजना के द्वारा सीखने की प्रक्रिया को 'गति प्रदान' करने के तरीके के रूप में लिया (ब्रूनर 1960)। ब्रिटेन में इसे कक्षा की गतिविधियों और पाठ्यक्रम को पुनर्गठित करने में बच्चों की वृहत्तर भूमिका के बाल केन्द्रित विचार के समानांतर विकास के रूप में समझा गया। इस सबने शिक्षाक्रम संबंधी प्रक्रियाओं की प्रभावी आलोचना प्लॉडान रिपोर्ट की पृष्ठभूमि की रचना की (पीकर 1971)। जब कोलबर्ग और मेयर (1972) ने लिखा कि विकास शिक्षा का एक लक्ष्य है, तब वे प्रत्येक बच्चे के संज्ञानात्मक विकास की संभावना को अर्जित करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दे रहे थे। शिक्षा में इस अवधारणा ने साक्षरता और अंकज्ञान सहित ज्ञान पर बच्चों की अधिकारिता, प्रभावी और सीखने के सामाजिक अधिकार क्षेत्र गुणात्मक प्रतिभा (गार्डनर 1986) और सीखने के सांस्कृतिक संदर्भ (वायगोट्स्की 1978; रॉगोफ 1990) के विकास का विस्तार, में शोध को निर्देशित किया। परीक्षण के लिए महत्त्वपूर्ण, संगत क्षेत्रों के विकास में कुशल शोधकर्ताओं को स्थिर तथा गतिज वातावरण में व्यक्तियों ही नहीं समूहों के भी सूक्ष्म परिवर्तनों को पकड़ पाने का अवसर दिया है (स्वानसन एवं लुसियर 2001)। अब सीखने वाले की 'उपलब्धियों' के बजाए उसके 'पोर्टफोलियो' की बात करना ज्यादा आम है।

गुणवत्ता की अवधारणा पर पियाजेवादी क्रांति का प्रभाव शिक्षकों द्वारा पढ़े जाने वाले शिक्षा मनोविज्ञान के पाठों, पाठ्यक्रम डिजाइन, परीक्षा और मूल्यांकन में और बच्चों को कक्षा में ज्यादा सक्रिय भूमिका देने वाली गतिविधियों पर पियाजे के विचारों को ज्यादा से ज्यादा शामिल किए जाने के रूप में देखा जा सकता है। यह प्रभाव असमान है लेकिन यह अब बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक प्रभावी प्रतिमान व्यवहारवाद की नीतियों, नजरियों और उससे उठने वाले सवालों के जवाब में नए प्रतिमान उपलब्ध कराता है। शिक्षा में व्यवहारवादी और निर्माणवादी प्रतिमानों के बीच मुख्य अंतर तालिका 1 में बताए गए हैं। जैसा कि मैकेडो (2001) और कैटो और कैमी (2001) ने ब्राजील और जापान के संदर्भ में इंगित किया है कि पियाजेवादी क्रांति अब भी सामयिक है ।

तालिका - 1

व्यवहारवाद और निर्माणवाद के मुख्य घटक और विभेद

	व्यवहारवाद	निर्माणवाद
बच्चे की प्रकृति के बारे में मान्यताएं	वातावरण के प्रति सजग	वातावरण के साथ संबंध बनाता है
पृष्ठभूमि	परंपरागत शिक्षाक्रम; ज्ञान के बारे में धारणा ऐसी वस्तु के रूप में जो ग्रहण और हस्तांतरित की जाती है।	रूसो, डीवी और मोंटेसरी से जुड़े विचार और प्रयोग। कार्य के द्वारा और यथार्थ से जोड़ते हुए ज्ञान का सृजन।
बल	परिणामों का पूर्वानुमान	व्यक्ति का विकास
असर	शिक्षक सीखे गए के परिणामों को देखता है	शिक्षक अवलोकन करता है और बच्चों की प्रगति पर प्रतिक्रिया करता है

शिक्षा की राष्ट्रीय व्यवस्था बनाना

अब तक की गई चर्चा अच्छी शिक्षा के बारे में 'पश्चिमी' परिभाषा के शेष दुनिया पर वर्चस्व को पेश करती है। हालांकि शिक्षा को लेकर नजरियों में बदलाव आता रहा है, कभी उसके सामाजिक लक्ष्यों में कुछ जोड़ दिया गया तो कभी पाठ्यक्रम

संबंधी सरोकार ज्यादा व्यापक हो गए, फिर भी निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि अंतत: वे सभी अनुशासन केंद्रित अकादमिक गतिविधियों पर आधारित हैं। ब्रिटेन और यूरोप ने एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका की अपनी औपनिवेशिक कॉलोनियों में जो स्कूली शिक्षा व्यवस्था लागू की उसकी रूपरेखा इसी परंपरा पर आधारित थी और निरीक्षण और परीक्षा व्यवस्था के द्वारा इसे नियंत्रित किया गया। डिग्री और नौकरी के लिए परीक्षा पास करने की अनिवार्यता ने रट्टा आधारित और पाठ्यपुस्तक संस्कृति को बढ़ावा दिया (कुमार 1998)। यही बातें उसके घटिया स्तर के प्रकट प्रमाण थीं। इस औपनिवेशिक विरासत के प्रतिरोध और शिक्षा में वैकल्पिक लक्ष्यों को अभिव्यक्त और प्रभावित करने की दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयास हुए। गांधी (1937) और बाद में नैयर (1968) ने ऐसी नई शिक्षा व्यवस्था का सृजन किया, जिसमें स्वावलंबन, समानता और ग्रामीण रोजगार पर जोर दिया गया। नए स्कूलों में क्या पढ़ाया जाना है इसमें स्थानीय परंपरा, पैतृक शिल्प तथा दक्षताओं तथा हाथ से किए जाने वाले अन्य उत्पाद कार्यों को किताबों के बिना सिखाया जाना शामिल था। घाना और बोत्सवाना जैसे देशों में 'उत्पादन के साथ शिक्षा' के स्तर में सुधार की नीति के रूप में देखा गया। सोवियत संघ तथा अन्य साम्यवादी देशों जैसे क्यूबा और वियतनाम में भी - नए राष्ट्र को परिभाषित करने के लिए गुणवत्ता की नई अवधारणा को प्रोत्साहित किया, जिसमें पाठ्यक्रम की वैज्ञानिक योजना के साथ आदतों और मूल्यों को महत्त्व दिए जाने को भी शामिल कर दिया गया (माल्कोवा 1989)। हालांकि, जैसा कि डोर (1980) ने कहा, सिर्फ चीन में ही रट्टा मारकर सीखने और मानवीय श्रम के प्रति पूर्वाग्रहों से मुक्त होने के लक्ष्यों को हासिल किया जा सका। वहां माओ की क्रांतिकारी रणनीति के उभार ने सामाजिक और आर्थिक संबंधों को प्रगतिशील नजरिए के साथ पुन: परिभाषित करने का रास्ता खोला, हालांकि शिक्षा की भूमिका और सार्थकता संबंधी पुराने विचार अब भी खत्म नहीं हुए (थोगेरून 1990; क्लेवरली 1985)। दक्षिण एशिया और अफ्रीका में फ्रेरे (1970) के कार्यों के लोकप्रियता हासिल करने में हुए बिलंब को देखते हुए हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि उसे राष्ट्रीय विकास के लक्ष्यों और शिक्षा के भूमंडलवादी, नैतिक मानकों के बीच एक खास सीमा तक तनाव उभरने तक इंतजार करना पड़ा। 'बैंकिंग शिक्षा' का चरित्र बताने के लिए 'वंचितों का शिक्षाशास्त्र' में फ्रेरे द्वारा पैमाने के रूप में वर्णित लक्षण इस बात की ओर इशारा करते हैं कि तीसरी दुनिया के ज्यादातर देशों में शिक्षा का स्तर अत्यंत घटिया था। इस पुस्तक से प्रेरणा पाकर आंदोलनकारी अवधारणाओं ने शिक्षा के स्तर में सुधार के लिए गहन राजनीतिक बदलाव और सुधार की आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित किया। फ्रेरे के विचारों ने नए खिलाड़ियों - गैर सरकारी संगठनों 'एनजीओ' - को प्रेरित किया कि वे सामुदायिक जागरूकता और प्राथमिक शिक्षा के स्तर में सुधार की दिशा में गतिशीलता लाएं। यह प्रयास शैक्षिक लक्ष्यों और गुणवत्ता के विचार को पुनर्गठित करने की दिशा में थे। वर्तमान परिस्थिति में उनकी विफलता से इस अर्थ में सीख ली जा सकती है कि हमने गुणवत्ता के विचार के बारे में बताने वाले दार्शनकि सरोकारों की ओर देखते रहने की बजाए उन नीतियों और व्यवस्था जिनके माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाती है और उस सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ जिसमें वे काम करती हैं की ओर देखना शुरू किया है।

गरीबों की शिक्षा

अब तक हमने कुछ ऐसे प्रभावशाली विचारकों का पता लगा लिया है जिन्होंने शैक्षिक लक्ष्यों, विधियों और उनमें निहित गुणवत्ता के विचार पर विमर्श की संभावनाओं को आकार दिया। अब हम अपना ध्यान शिक्षा में समानता और सबको शिक्षा के लक्ष्यों को हासिल करने की दिशा में खासतौर से हुए प्रयासों की ओर केंद्रित करते हैं, जिसके संदर्भ में गुणवत्ता के विचार ने भी प्रचार प्राप्त किया और विकसित हुआ। जैसा कि हम पहले भी जिक्र कर आए हैं 1960 के बाद के समय में हम पाते हैं कि शब्द 'गुणवत्ता' या उसके अभाव की स्थिति को खास महत्त्व दिया जाने लगा और स्कूलों में उसे सुनिश्चित किए जाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। एक व्यापक धारणा जिसमें की गुणवत्ता का आर्थिक विमर्श सटीकता और औद्योगिक उत्पादन और विपणन जैसे क्षेत्रों में लोकप्रियता हासिल कर रहा था (डूले 2000)। गुणवत्ता पर नियंत्रण के विचार और सांख्यिकी-आधारित निगरानी में डब्ल्यू. एडवर्ड डेमिंग के 'पूर्ण गुणवत्ता प्रबंधन', 'गुणवत्ता नियंत्रण' और उत्पादित वस्तुओं में उच्चतम मानकों और क्षमता को सुनिश्चित करने के आश्वासन के विचारों के साथ परीक्षा आधारित उत्पादन की नींव डाली। 1960 के बाद से अमेरिका के अनेक गणराज्यों में स्कूल बोर्डों ने राज्य की शिक्षा व्यवस्था के स्तर का पता लगाने के लिए इन अवधारणाओं को काम में लेना शुरू कर दिया (उदाहरणार्थ : गुणवत्ता मापक परियोजना 1970)। (व्यवहारवादी स्कूलों के) शिक्षण लक्ष्यों को ध्यान में रखकर डिजाइन किए गए परीक्षणों ने निवेश और उत्पादन दोनों ही स्तर पर स्वयं को शिक्षा के योजना मॉडल के हवाले कर दिया। बच्चों द्वारा अर्जित अंकों का इस्तेमाल स्कूल की विशिष्टता, अध्यापकों की काबिलियत और स्कूल के प्रभाव का निर्णय करने में किया जाने लगा। इस

मॉडल ने शिक्षा अर्थशास्त्रियों और योजनाकारों द्वारा स्कूल की गुणवत्ता को लेकर अपनाए गए उत्पादन-कार्य नजरिए को पोषित किया।

लगभग इसी समय में शुल्त्ज (1960) द्वारा प्रस्तावित मानव पूंजी के सिद्धांत ने गरीबों के लिए शिक्षा की आवश्यकता पर जोर देते हुए इसे गरीबी के प्रभावों को संबोधित करने का एक कारगर मार्ग बताया। इसे आर्थिक विकास को सुनिश्चित करने के लिए एक निवेश के रूप में भी देखा गया। स्कूल की गुणवत्ता का अध्ययन करने के लिए उत्पादन कार्य नजरिए का उपयोग गरीबों को मुआवजे के तौर पर दी जाने वाली शिक्षा की रणनीतियों की निगरानी करने में किया गया। इस परंपरा में किए गए सभी अध्ययनों का ध्यान लागत प्रभावों पर ही नहीं था। कॉलमेन (1968) की रिपोर्ट ने (अध्यापकों तथा सुविधाओं के लिहाज से) स्कूल की गुणवत्ता और बच्चे द्वारा प्राप्त की गई शिक्षा के लिहाज से गुणवत्ता के बीच अंतर किए जाने को संभव बनाया। ऐसे स्कूल जिनमें सामाजिक तथा जातीय पृष्ठभूमि का समावेश हो, के फायदों को रेखांकित करते हुए कॉलमेन की रिपोर्ट में यह तर्क दिया गया है कि गुणवत्ता कक्षा की स्वाभावगत विशेषता और शिक्षा नीति में निहित सामाजिक दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब है। इस व्यापक नजरिए, जिसमें बच्चे के सामाजिक यथार्थ में दिलचस्पी के साथ शिक्षण में कल्पनाशीलता पर जोर दिया गया है, का प्रभाव समूचे अटलांटिक क्षेत्र में महसूस किया गया। योजनाकारों के विमर्श में पहले से ही स्कूल स्वायत्तता, विकेंद्रीकरण और रूपान्तरण की क्षमताओं के केन्द्र के रूप में उभर रहा था।

गरीबों के लिए शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रभावी तरीकों को दूसरी चुनौती स्कूल के 'नए समाजशास्त्र' से मिली। पूर्ववर्ती, शिक्षा के परंपरागत समाजशास्त्र, जो बच्चों की सामाजिक पृष्ठभूमि और शिक्षा ग्रहण करने के बाद में उनके लिए तय सामाजिक आर्थिक भूमिकाओं पर केन्द्रित थी, के विपरीत बर्नस्टीन (1971), बोर्द्यू (1970) और एप्पल (1980) जैसे समाजशास्त्रियों के शोधपत्र ने स्कूल के ब्लैक बॉक्स को खोल दिया ताकि उनकी कक्षाओं, शिक्षण संबंधों, स्कूली ज्ञान के सांकेतिक चरित्र और संस्थागत संस्कृति के गहरे प्रभावों के अंदर झांका जा सके। इन सवालों ने अनेक विकसित देशों में शिक्षा के सामाजिक आधार को बल प्रदान किया और विद्यालयी विमर्शों में नैतिक पक्षधरता व शिक्षा की राजनीति को गुणवत्ता को परखने के पैमाने के रूप में बरकरार रखा। शिक्षा की उपलब्धता को लेकर अमीर और गरीब के बीच बढ़ते फर्क से संबंधित आंकड़ों और अभिभावकों की पृष्ठभूमि के स्कूल की उपलब्धियों की सूचक होने से संबंधित बातों ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया कि विकसित देशों में भी शिक्षा के समान अवसरों की बात आज भी एक सवाल ही बनी हुई है। (कॉनेल 1994; रीमर्स 1999)। इसने शोधार्थियों को प्रेरित किया कि वे विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तावित टेक्नाक्रेटिक परंपराओं, 'प्रमाण-आधारित' रणनीतियों को चुनौती दें और शिक्षा के राजनीतिक, सामाजिक-आर्थिक संदर्भ को ध्यान में रखते हुए सुधार के विचारों को निर्मित करें और गुणवत्ता में सुधार के लिए नीति निर्माताओं का ध्यान व्यवस्थित पुनर्निमाण की ओर खींचे। एक बेहतरीन उदाहरण नस्लवाद के समापन के बाद के अफ्रीका का है, जहां राष्ट्रीय स्तर के एक 'योग्यता प्राधिकरण' ने शिक्षा में गुणवत्ता सुनिश्चित करने के इरादे से परीक्षा व्यवस्था में सुधार का प्रयास किया था (स्मिथ एवं न्गोमा-माएमा 2003)।

विकासशील देश

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है सम्पन्न तबके के हितों को पोषित करने वाले शिक्षा के औपनिवेशिक ढांचे से प्रतिरोध के कुछ प्रयासों के बावजूद वस्तुत: सभी राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्थाओं को स्कूल के विश्वव्यापी पाश्चात्य मॉडल ने अपने वशीभूत कर रखा था। पश्चिम में 1960 के अंतिम और 1970 के आरंभिक वर्षों में लिखे जा रहे नव मानवतावादी लेखन का विकासशील देशों में शैक्षिक विमर्श पर अपेक्षाकृत सीमित असर पड़ा। इन देशों में शिक्षण, शिक्षक प्रशिक्षण और मूल्यांकन की व्यवहारवादी विधियां इतनी लोकप्रिय हैं कि उनमें कोई बदलाव नहीं आया और उनका प्रयोग आज भी जारी है।

1960 और 1970 से ही अनुदान और ऋण देने वाली, दोनों ही तरह की एजेंसियां अनुदान तथा ढांचागत समायोजन दोनों ही स्तर पर पहले तो शिक्षा के प्रसार और फिर स्कूली शिक्षा में गुणवत्ता के प्रयासों की सहायता करने में शामिल है (स्टीफेंस 1991)। अफ्रीका में, जहां ढांचागत समायोजन कार्यक्रमों के कारण उप सहारा क्षेत्रों में बच्चों की शिक्षा के लिए उपलब्ध वित्तीय संसाधनों में जबरदस्त कमी आई (यूनिसेफ 1989; चावला 1995), वहां ऐसा प्रतीत होता है कि गुणवत्ता की बहस ज्यादा मुखर नहीं हो पाई। सरकारी संसाधनों की उपलब्धता के अभाव की स्थिति में स्कूलों में गुणवत्ता में सुधार के लिए आमतौर पर समुदाय की भागीदारी की सलाह दी जाती है। पूर्वी एशिया के अनेक देशों में औद्योगिकरण के नव स्थापित ढांचे की उत्पादकता बढ़ाने को ध्यान में रखकर बनाई गई व्यावहारिक नीतियों में 'सकल गुणवत्तता प्रबंधन' जैसी विधियां काम में ली गईं। शिक्षा व्यवस्था का भी

ध्यान सबको आधारभूत दक्षताएं देने और उनमें निपुण बनाने पर केंद्रित रहा। अधिकांश दक्षिण एशिया में प्राथमिक शिक्षा और वयस्कों में साक्षरता को बढ़ावा देना राज्य प्राथमिकताओं में काफी नीचे रहे। उच्च शिक्षा को विस्तार का दवाब भी आर्थिक स्थितियों के मद्देनजर ही बढ़ा (डोरे 1976)। डोरे का कहना था कि देरी से औद्योगिकरण की दौड़ में शामिल हुए देशों में उदार, कल्पनाशील शिक्षाक्रम का विकास नहीं हो सका क्योंकि सरकारी नीतियां शिक्षा और अर्थव्यवस्था के संबंध में कोई व्यवस्थित नजरिया नहीं अपना पाई।

ऐसी ऋणदाता संस्थाओं की जरूरत बढ़ रही थी जो प्राथमिक शिक्षा में ऐसे क्षेत्रों में निवेश को निर्देशित कर सकें जो ऐसे परिणामों का पूर्वानुमान कर सकें, जिन्हें देश के आर्थिक विकास के साथ संबद्ध करके देखा जा सके। अर्थशास्त्री 1985 से मानव पूंजी के मिंसरियन मॉडल में स्कूल में गुणवत्ता के संकेतकों को विकसित और शामिल किए जाने पर जोर दे रहे थे (बेहरमान एवं बर्डसाल 1985)। तुलनात्मक अध्ययन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनीयताओं में फर्क करने, खासतौर से विकासशील और विकसित देशों के बीच, के लिए स्कूल के प्रावधानों का बेहतर प्रतिरूपण अनिवार्य प्रतीत होता है, उदाहरणार्थ अफ्रीका और लातिन अमेरिका सरीखे कम आय वाले देशों में स्कूलों का आधारभूत ढांचा और शिक्षकों की अर्हता (गुणवत्ता के पैमाने के रूप में) का विद्यार्थियों की अकादमिक उपलब्धियों पर प्रभाव पड़ता है (देखें, उदाहरणार्थ हेयनमान एवं लॉक्सली 1983) या स्कूल की प्रभाविता के लिए सांस्कृतिक स्थित मॉडल की आवश्यकता (फुलर एवं क्लार्क 1994)। 1980 के दशक से शिक्षा के विमर्श में नियमन के विचार, जवाबदेही (परिणामों को नाप कर), कीमत साधकता, अंतर्राष्ट्रीय तुलना और धारक के अधिकार जैसे नए तत्वों का समावेश हुआ। 'धारक के अधिकार' इस अपवाद को छोड़कर बाकी सभी शब्द पहले से राज्य प्रदत्त शिक्षा के प्रबंधन और नौकरशाही योजना का हिस्सा थे। इसमें नया पहलू आधारभूत जरूरतों को पूरा करने के लिए वित्त पोषित कार्यक्रमों पर बढ़ी निर्भरता थी, जिसके चलते बाहरी एजेंसियों द्वारा पास से निगरानी को बढ़ावा मिला। उत्पादन-कार्य नजरिए पर आधारित अध्ययनों के सहयोग से हम 'सुधार कार्यक्रमों का क्रियान्वयन' और गुणवत्ता में विकास के सूचक संकेतकों की सूची को, ढांचागत प्रावधान, प्रति बालक लागत और स्कूल में बिताए वर्षों की संख्या जैसे सीमित आंकड़ों की तुलना में बढ़ता हुआ देखते हैं, जिनमें शिक्षक और कक्षा में होने वाली अंतर्क्रिया की चारित्रिक विशेषताओं को शामिल करने के प्रयास भी निहित हैं। सीखने की उपलब्धियों का भी भाषा और अंकज्ञान की बजाए विज्ञान में अंक हासिल करने की ओर स्थानांतरण हुआ है। सामरिक योजना की सहायता के लिए 'मजबूत' संकेतक का पता लगाने के प्रयास जारी हैं । (हेनुशेक 1994; वर्सपूअर एवं फुलर 1985)।

1980 के दशक में जब अंतर्राष्ट्रीय दानदाता एजेंसियों की विलंब से ही सही मानवीय पूंजी के सिद्धांत को लागू करने की मांग ने उन्हें समझाया, तब तीसरी दुनिया के अनेक देशों में शिक्षा नीति का पुनर्गठन करते हुए उनमें इन विचारों का भी समावेश किया गया। इस परिसरण से गुणवत्ता के अनेक मॉडल विकसित हुए। फुलर (1994) ने उनका मुख्यत: तीन श्रेणियों में वर्गीकरण किया : (अ) स्कूल में निवेश के सबसे प्रभावी मिश्रण को संसाधन उपलब्ध कराना, (ब) शिक्षाक्रम संबंधी प्रवृत्तियों और पाठ्यक्रम में सुधार, (स) स्थानीय भागीदारी बढ़ाकर स्कूल प्रबंधन में बदलाव लाना। लॉकहीड केंद्रीकरण, शिक्षकों के उत्साहवर्द्धन द्वारा गुणवत्ता पर नियंत्रण, पाठ्यक्रम में सुधार, समुदाय के अधिकार और राष्ट्रीय परीक्षा को शामिल करते हैं । इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि परिणाम कुछ भी कहें, इनमें पर्याप्त बदलाव की गुंजाइश रहती है (स्कीरेंस 2000; हानुशेक 2002)। रिडेल (1997) के अनुसार विकासशील देशों में स्कूल प्रभाव अध्ययन की तीसरी लहर की संभावना के तलाशे जाने के बिना ही गुम हो जाने की आशंका है, जैसे कि समन्वित स्कूल प्रभाव अध्ययन, संसाधनों के निवेश सहित, संस्थागत पहलू और निर्देशात्मक चारित्रिक विशेषताएं जिनमें बहुस्तरीय प्रतिरूपण एक अहम पद्धतिगत अनिवार्यता है (स्कीरेंस 2000)। गुणवत्ता के सवालों पर समानांतर नजरिए, जो कि शिक्षक की व्यावसायिकता को ज्यादा केंद्रीय बनाता है, को पहचानते हुए स्कीरेंस (2000) और फुलर (1987) कहते हैं कि यदि यह दोनों शोध धाराएं साथ आती हैं तो उन्हें ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता था। यदि स्कूल और कक्षा के 'ब्लैक बॉक्स' में ज्यादा उल्लेखनीय जवाब न होते तब भी अपनी गतिविधियों को व्यवस्थित करने के लिए शिक्षक जिस तरह के संसाधनों पर निर्भर हैं और शिक्षकों और समुदाय की मान्यताओं और सांस्कृतिक पहलुओं में भी इसे मानने के पर्याप्त कारण मौजूद हैं।

बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों के दौरान विकसित और विकासशील दोनों ही तरह के देशों में भूमंडलीकरण की बहस से संबद्ध वजहों के कारण गुणवत्ता की बहस केन्द्र में आ गई है। राष्ट्रीय आर्थिक असुरक्षा और पूंजी तथा पेशेवर मानव शक्ति की गतिशीलता में वृद्धि के नए वातावरण के बीच गुणवत्ता के सूचकों में विद्यार्थी की उपलब्धियों को ज्यादा महत्त्व हासिल हुआ है। यूरोप में हुए पीसा (PISA) अध्ययन ने इस प्रवृत्ति की ओर संकेत

किया। अल्पविकसित और विकासशील देशों में जॉमतिअन कॉन्फ्रेन्स के बाद के गुणवत्तावर्द्धन कार्यक्रम इस बात का संकेत देते हैं कि गुणवत्ता की पहुंच का विस्तार करने की एक शर्त के रूप में पहचाना जाने लगा है। निजीकरण को लेकर बहसों में भी गुणवत्ता को लेकर चिंता ने केंद्रीय महत्त्व हासिल कर लिया है। इन बहसों में सुधार के अनेक नए मॉडल प्रस्तावित किए गए हैं, जिनमें से कुछ उदार राजनीतिक सिद्धांत जैसे कि प्रतिस्पर्द्धा और चयन की स्वतंत्रता, जैसे कालातीत मुद्दों का आह्वान करते हैं। यह नव उदारवादी विमर्श के तत्व हैं जो खास तरह के उत्तर आधुनिक सिद्धांतों में प्रतिध्वनित होते हैं (ब्राउन 1997)।

असर और सबक

गुणवत्ता के विचार से संबंधित इस संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण और शिक्षा में इसके क्रियान्वयन ने, खासतौर से विकासशील देशों में शैक्षिक सुधारों के संदर्भ में ताजा बहस और चिंताओं को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। हमने इन प्रभावों और मौजूदा समय में इनसे लिए जाने वाले सबकों का मोटे तौर पर छह हिस्सों में वर्गीकरण कर उन पर चर्चा की है।

एक

गुणवत्ता को लेकर चिंता का आलंकारिक महत्त्व बहुत अधिक है और इसके चलते यह हमें तीसरी दुनिया के अनेक देशों की शैक्षिक योजना में लंबे समय से उपेक्षित कुछ मुद्दों और पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करने का अवसर प्रदान करती है। यह मुद्दे हैं शिक्षकों का पेशेगत आत्मसम्मान, उनका प्रशिक्षण, उनके काम-काज की परिस्थितियां और पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकों के निर्माण के संदर्भ में राज्य सत्ता के नुमाइंदों और प्रशासकों के साथ उनका संबंध। सांस्थानिक संस्कृति को दिए गए अत्यधिक महत्त्व के चलते गुणवत्ता पर बहस ने मंत्रालयों और नौकरशाही संस्थानों के साथ गुटबाजी के अवसरों को भी बढ़ावा दिया । यदि गुणवत्ता पर बहस को बौद्धिक इच्छाशक्ति और जन समर्थन के साथ आगे बढ़ाया जाता है तो यह स्कूल को एक ऐसी प्रमुख सामाजिक संस्था के रूप में पुन: प्रतिष्ठा दिलाने में सहायक हो सकती है जो कि सुधार की एक इकाई के रूप में प्रतिष्ठा पाने की हकदार है। राजनीतिक और प्रशासनिक प्राथमिकता के रूप में विकेंद्रीकरण में इतनी सामर्थ्य है कि वह स्कूल के साथ इस तरह पेश आ सके, लेकिन आधिकारिक या दानदाता संस्थाओं के नजरिए में कुछ ऐसा बदलाव आया है कि स्कूल, खासतौर से ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूल सरकारी व्यवस्था में दर्ज कुछ आंकड़े मात्र तक सीमित हो गए हैं। प्रत्येक स्कूल का अपना स्वभाव होता है, जिसे विभिन्न कारण गढ़ते हैं, स्कूल का यही स्वभाव वहां बच्चों के शैक्षिक अनुभव और उसकी गुणवत्ता की पहचान कराने वाला घटक होता है और इसे ही पहचान की आवश्यकता होती है (सारंगपाणी 2003)।

दो

शिक्षा में गुणवत्ता के विचार का इतिहास शैक्षिक योजना और सुधार में दार्शनिक संसाधनों की अपरिहार्यता को रेखांकित करता है। डीवी, मारती, पियाजे, गांधी, इकबाल (1930) और फ्रेरे जैसे विचारक हमें यह याद दिलाते हैं कि शिक्षा का मनुष्य मात्र के लिए खास महत्त्व है क्योंकि इसकी कुछ ऐसी चारित्रिक विशेषताएं हैं जो सिर्फ इसी में हो सकती हैं। शिक्षा के लक्ष्यों के बारे में हमारी समझ का परिशोधित करते हुए विचारक हमें शैक्षिक प्रावधानों के बारे में निर्णय करने के उपकरण प्रदान करते हैं। इस तरह दार्शनिक नजरिए से विचार गुणवत्ता की बहस को सघनता देता है (विंच 1996)। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि अधिकांश तीसरी दुनिया के देशों में शिक्षा के दार्शनिक लक्ष्य शैक्षिक विमर्श से पूरी तरह अदृश्य हो गए हैं, जिसका कारण दौड़ में बने रहने की अनिवार्यता का आतंक नजर आता है, अनेक विकसित देशों के विमर्श के साथ भी ऐसा ही हुआ। नव उदार अर्थशास्त्र और कट्टर बाजार की ताकतों की लोकप्रियता का लाभ उठाते हुए नीति निर्माण एक तकनीक तंत्र वाले नजरिए के हाथ में चला गया। ऐसे वातावरण में यह मुश्किल हो सकता है लेकिन यह उतना ही अपरिहार्य भी है कि अंतर्राष्ट्रीय अनुदानदाता एजेंसियां इस बात को समझें कि एक सीमा से आगे स्कूल के साथ 'ब्लैक बाक्स' जैसा बर्ताव बहुत मददगार नहीं होता। यदि शैक्षिक योजनाकार, अर्थशास्त्री और अनुदान सलाहकार तीसरी दुनिया के शैक्षिक तंत्र में आई मंदी की स्थिति को समझाना और उससे निपटना चाहते हैं तो उन्हें इसमें रुचि लेनी होगी कि इस ब्लैक बाक्स के अंदर क्या चल रहा है और वे कौनसी चीजें हैं जो इसकी आंतरिक दुनिया को आकार दे रही हैं। इस बक्से में देखने की चुनौती का सामना करने के दौरान शिक्षा में दार्शनिक विश्लेषण लक्ष्य और विधियों के बीच तालमेल के अभाव की समस्या को सुलझाने में भी सहायक होंगे, जो कि तीसरी दुनिया की शैक्षिक व्यवस्था की एक गंभीर समस्या है (धनकर 2003)।

तीन

इतिहास गवाह है कि गुणवत्ता के विचार ने लोकतांत्रिक सिद्धांतकारों द्वारा शैक्षिक अवसरों में समानता को लेकर जताई जाती रही चिंता को दूर करने में भी मदद की है। जहां तक मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों की बात है, बच्चों के शैक्षिक

अनुभव में गुणवत्ता को लेकर चिंता ने स्कूलों में नामांकन के समान अवसर उपलब्ध कराने की एक वस्तुनिष्ठ समझ तो बनाई है। नव-उदार नीतियों और गुणवत्ता को निजीकरण से जोड़ने वाली आडंबरपूर्ण बातों के शोरगुल में गुणवत्ता पर बहस की इस महत्त्वपूर्ण विरासत के गुम हो जाने का खतरा मंडरा रहा है। वाउचर व्यवस्था के प्रस्तावों में निहित ग्राहक के प्रति जवाबदेही और चयन की स्वतंत्रता जैसे विचारों ने इस तरह की बातों को बल प्रदान किया है कि सिर्फ शिक्षा की निजीकृत व्यवस्था ही गुणवत्ता सुनिश्चित कर सकती है। इस तरह के तर्कों के कारण अनेक देशों में सरकारी नीतियों को विरूपित किए जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। विंच (1996) ने इस तर्क का विस्तार से विश्लेषण करते हुए कहा है कि सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था को नुकसान न पहुंचे इसके पक्ष में असंख्य कारण मौजूद हैं।

चार

जैसे-जैसे शैक्षिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले बदलावों की जटिलता का पता लगता जाता है योजनाकारों और दानदाता एजेंसियों को इस बात की जरूरत है कि वे भावी सुधारों को स्वीकार करने की शिक्षा व्यवस्था की क्षमताओं पर पड़ने वाले प्रभावों और अंततः बच्चों की शिक्षा के बारे में जागरुक रहें। गुणवत्ता के अध्ययन और उस पर निगरानी के लिए 'उत्पादन कार्य' नजरिए की संभावना ज्यादा से ज्यादा जटिल होती जाती है और संस्कृति और आस्थाओं सहित वे क्षेत्र जिनमें योजनाकार दखल दे सकते हैं उनको लेकर समझ और अधिक गहरी होती जाती है। लेकिन यहां भी दान देने और लेने वालों, दोनों की थकान नजर आती है। इस कार्यक्रमबद्ध अनुदान से संचालित सुधार का एक अतिरिक्त पहलू दान देने और लेने वाले दोनों पक्षों द्वारा सफलता को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करने से संबंधित है (ब्लूम एवं कोहेन 2002), जिसके चलते जमीनी स्तर बदलाव की कमी का पता लगाना और उसका मुकाबला करना मुश्किल हो जाता है।

पांच

'जवाबदेही' ने शिक्षकों की नव व्यावसायिकता में एक अतिरिक्त पहलू जोड़ा है। माता-पिता अब 'शिक्षक से एक विनम्र दूरी बनाए रखने वाले' और घर में रहकर ही अनिवार्य मदद उपलब्ध कराने वाले मूक भागीदार की भूमिका (हारग्रीव्स एवं लो 2000) से निकल कर ज्यादा परस्पर सहयोगी और सक्रिय भागीदार के रूप में अपनी भूमिका अदा करने के लिए बाध्य हैं। परीक्षा और मानकीकरण ने भी शिक्षकों पर अपना प्रभाव छोड़ा है- एक ओर शिक्षकों की ओर से रचनात्मक भागीदारी भी सामने आई है जहां वे मानकों का ध्यान रखते हुए अपनी प्रतिभा और परंपरागत प्रतिभा का इस्तेमाल करते हुए काम करते हैं। इसी के समानान्तर व्यावसायिकता का असर इस रूप में भी सामने आया है कि शिक्षक परीक्षा के लिए पढ़ाते हैं'। इस प्रकार 'पूरक और विशेष कार्यक्रमों में 'मानकों' और 'आधारभूत दक्षताओं' पर जोर ने एक रूढ़ शिक्षक केंद्रित शिक्षाक्रम को बढ़ावा दिया' (कॉनेल 1994)। विकासशील देशों में यह शिक्षक को 'योजना के क्रियान्वयनकर्ता' के रूप में देखने की प्रवृत्ति भी है, और शोधकर्ताओं ने शिक्षकों में उनकी गुणवत्ता को बढ़ाने के उद्देश्य से प्रेरित प्रयासों को अपनाने में अनिच्छुकता को दर्ज किया है (हारग्रीव्स एवं लो 2000)।

छह

अंततः सवाल यह है कि गरीबों की शिक्षा में समस्या 'सामयिकता की है या गुणवत्ता' की (अवालोस 1992)। शैक्षिक उद्देश्यों और शिक्षाक्रम अभ्यासों में सांस्कृतिक विविधता के सवाल के साथ मिलकर (लिटिल 1999) इसी के साथ शैक्षिक उद्देश्यों और शैक्षणिक व्यवहारों में सांस्कृतिक वैविध्य के प्रश्न को सार्वभौमिकरण में रत देशों द्वारा समुदायों - जिनमें स्थानीय समुदाय सम्मिलित हैं, के साथ जोड़े रखना आवश्यक है। दुनिया के उन हिस्सों में जहां वैकल्पिक परंपराएं बहुत मजबूत हैं, हमें यह पूछने की जरूरत है कि इस्लामिक या कन्फ्यूशियन शिक्षा के विचार, जो इन धार्मिक परंपराओं को मानने वाले समाजों में लोकप्रिय चिंतन का आधार हैं किस प्रकार उन समाजों में यह परंपराएं शैक्षिक व्यवस्था के आधुनिकीकरण में संसाधन की तरह मददगार हो सकती हैं। ◆

अनुवाद - देवयानी

'कन्टम्परेरी एज्यूकेशन डायलॉग' के 2:1, 2004 अंक से साभार।

प्रो. कृष्ण कुमार
निदेशक
एनसीईआरटी, श्री अरविन्दो मार्ग,
नई दिल्ली - 110016

डॉ. पद्मा सारंगपाणी
नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टेडीज,
इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस कैम्पस,
बैंगलौर - 560012